

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥१॥
प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणीजनों में हर्ष प्रभो ।
करुणा-स्रोत बहें दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो ॥१॥

हे भगवान ! मेरे मन में सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव हो, गुणवान व्यक्तिओं के प्रति हर्ष/प्रसन्नता का, दुःखी जीवों के प्रति दया/करुणा का और विपरीत बुद्धिवाले, वस्तु-स्वभाव को नहीं माननेवाले दुर्जनों के प्रति मध्यस्थता/समता का भाव सतत बना रहे । १

शरीरतः कर्तृमनन्तशक्तिं, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।

जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं, तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

यह अनन्त बल-शील आत्मा, हो शरीर से भिन्न प्रभो ।

ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको ॥२॥

हे भगवान ! जैसे तलवार म्यान से पूर्णतया पृथक् होने के कारण सरलता, सहजता से पृथक् हो जाती है; उसीप्रकार मुझे वह अनन्त आत्म-सामर्थ्य/स्व-पर भेदविज्ञान के बल पर अनन्त पदार्थों में से स्वयं को पूर्णतया पृथक् करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, जिससे मैं अपने अनन्त वैभव सम्पन्न आत्मा को इस शरीर से श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र्य रूप में पूर्णतया पृथक् कर सकूँ । २

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भुवने वने वा ।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥३॥
सुख-दुःख, वैरी-बन्धु वर्ग में, काँच-कनक में समता हो ।
वन-उपवन, प्रासाद^१-कुटी में, नहीं खेद नहिं ममता हो ॥३॥

हे प्रभो ! मुझमें ऐसा साम्यभाव प्रगट हो जिससे मुझे सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, काँच-कनक/सुवर्ण, वन-बगीचा, महल-कुटिया इत्यादि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिओं में न तो ममत्व हो और न खेद-खिन्नता हो । ३

प्रासाद^१ महल

मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव, स्थिरौ निषातविव बिम्बिताविव ।
पादौत्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा, तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥
जिस सुन्दरतम पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ^२ ।
वह सुंदर-पथ ही प्रभु मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ ॥४॥

हे प्रभो ! आपने आत्म-स्थिरता के जिस सुन्दरतम मार्ग पर चलकर मोह, मान,
विषय वासना आदि विकारों को जीता है / नष्ट किया है; वही सुन्दर मार्ग मेरा भी
अनुशीलन मार्ग बने; मैं भी उसी मार्ग पर चलकर स्वरूप-स्थिर रहूँ । ४

मन्मथ^२ कामदेव

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः प्रमादतः संचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥
एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो ।
शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो ॥५॥

हे प्रभो ! अज्ञान, कषाय, प्रमाद आदि के वशीभूत मैंने एकेन्द्रिय आदि प्राणिओं की हिंसा की है । अब मैं विशुद्ध भाव से इसका प्रायश्चित्त करता हूँ; पुनः मैं ऐसा दुष्कृत्य नहीं करूँगा । पूर्वकृत मेरा यह दुष्कृत्य निष्फल हो जाए/मेरे शुद्ध भावों का निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्म बिना फल दिए ही समाप्त हो जाएं । ५

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्तिना, मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।
चारित्रशुद्धेर्यदकाहरि लोपनं, तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६॥
मोक्षमार्ग प्रतिकूल^३ प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायों से ।
विपथ^४-गमन सब कालुष मेरे, मिट जायें सद्भावों से ॥६॥

मैंने कषायों के वशीभूत हो जो भी मोक्षमार्ग से विरुद्ध प्रवृत्ति की है, खोटे मार्ग पर गमन किया है; वह सब मेरी कलुषता मेरे सद्भावों / सम्यक् परिणमन से नष्ट हो जाए।६

प्रतिकूल^३ विरुद्ध, विपथ^४ खोटा मार्ग

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनोवचःकायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं, भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥
चतुर वैद्य विष विक्षत^५ करता, त्यों प्रभु! मैं भी आदि उपाँत ।
अपनी निंदा आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त ॥७॥

हे प्रभो ! जैसे चतुर वैद्य अपनी चतुराई से विष को शान्त कर देता है ; उसीप्रकार मैं भी अपने पापों को शान्त करने के लिए प्रारम्भ से लेकर अन्त पर्यंत अपने सभी दुष्कृत्यों की निन्दा-आलोचना करता हूँ । ७

विक्षत^५ नष्ट

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं, जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः ।
व्यधादनाचारमपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥
सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया ।
व्रत-विपरीत प्रवर्तन करके, शीलाचरण^६ विलीन^७ किया ॥८॥

मैंने सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का पालन करने में भी अपने मन को मलिन रखा
तथा व्रतों से विपरीत प्रवृत्ति करके शीलमय आचरण/सदाचार का भी लोप कर
डाला/स्वच्छन्द प्रवर्तन करने लगा । ८

शीलाचरण^६ सदाचार, विलीन^७ लोप

क्षति मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषुं वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसत्काम् ॥९॥
कभी वासना^१ की सरिता का, गहन^१ - सलिल मुझ पर छाया ।
पी-पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया ॥९॥

कभी विषय-वासनामय इन्द्रिय-विषयों की इच्छारूप नदी का गहरा जल मुझ पर
ऐसा चढ़ गया कि मैं अपनी सुध-बुध ही खो बैठा । पंचेन्द्रिय विषय-भोगों रुपी शराब को
बारम्बार पीने से मुझमें पागलपन आ गया । मैं हित-अहित का विवेक करने में भी
असमर्थ हो गया हूँ । ९

वासना^१ इन्द्रियों-विषयों की चाह, गहन^१ गहरा

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोत्कम् ।

तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१०॥

मैंने छली और मायावी, हो असत्य आचरण किया ।

पर-निन्दा गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया ।१०॥

हे भगवान! मैंने सदा छल/माया आदि कषायों के वशीभूत हो असत्य/वस्तु-
स्वभाव के विरुद्ध आचरण किया है । मेरे मन में अन्य की निन्दा करने के, चुगली करने
के, अन्य को गाली देने के इत्यादी जो भी भाव उत्पन्न हुए, तदनुसार मुँह से भी
उगला/वचनों से भी वैसा ही व्यवहार किया है । १०

बोधिः समाधि परिणामशुद्धिः स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने, त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥
निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे ।
निर्मल जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे ॥११॥

हे स्वामी ! अब मात्र यही चाह है कि मेरा मन अभिमान रहित पवित्र हो जाए, उसमें सदा सत्य का/वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ही ध्यान चलता रहे । निर्मल जल से परिपूर्ण नदी के समान मेरे हृदय में भी सदा निर्मल ज्ञान की धारा प्रवाहित होती रहे । ११

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै-र्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।

यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

मुनि चक्री^{१०} शक्री^{११} के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे ।

गाते वेद पुराण जिसे वह, परम देव मम हृदय रहे ॥१२॥

परमपूज्य मुनिराज, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि के मन में भी जिस अनन्त वैभव सम्पन्न परमदेव / निज शुद्धात्मा का ध्यान रहता है ; वेद-पुराण आदि चार अनुयोगमयी समग्र जिनवाणी जिसका सदा यशोगान करती है, वह परमदेव निजशुद्धात्मा मेरे हृदय में भी सदा विद्यमान रहे । १ २

चक्री^{१०} चक्रवर्ती, शक्री^{११} इन्द्र

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः, समस्तसंसार विकारबाह्यः ।

समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये ।

परम ध्यान गोचर परमात्म, परम देव मम हृदय रहे ॥१३॥

जो दर्शन-ज्ञान स्वभावी है, जिसने सभी विषय- विकारों/विकृतिओं को नष्ट कर दिया है, जो उत्कृष्ट ध्यान में ही उपलब्ध होता है, वह परमात्मा परमदेव मेरे मन में वास करे । १३

निषूदते यो भवदुःखजालं, निरीक्षते यो जगदन्तरालं ।

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

जो भवदुःख का विध्वंसक है, विश्व विलोकी^{१२} जिसका ज्ञान ।

योगी जन के ध्यान गम्य वह, बसे हृदय में देव महान ॥१४॥

जो संसार के सभी संतापों को नष्ट कर देता है, जिसका ज्ञान समस्त विश्व को जाननेवाला है, योगीजन जिसे ध्यान द्वारा उपलब्ध करते हैं, वह महान देव मेरे मन में स्थित रहे ।१४

विलोकी^{१२} संपूर्ण विश्व को जाननेवाला

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो, यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥
क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गा, रागादयो यस्य न सन्ति दोषा : ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म-मरण से परम अतीत^{१३} ।
निष्कलंक त्रैलोक्य-दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप ॥१५॥
निखिल-विश्व के वशीकरण में, राग रहे ना द्वेष रहे ।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे ॥१६॥

जो मुक्ति के मार्ग को/समस्त बन्धनों, पराधीनताओं से मुक्त हो स्वतन्त्र, स्वाधीन, परम सुखी होने के मार्ग/उपाय को बताता है; जन्म-मरण से पूर्णतया रहित है, समस्त कर्म कलंक से रहित और तीनकाल तीनलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को देखनेवाला हैं, वह देव मेरे मन के निकट रहे/मेरा मन सदा उसमें ही स्थिर रहे । १५ .

समस्त विश्व के प्राणी जिनके अधीन हैं, ऐसे वे राग-द्वेष जिसमें नहीं है; जो शुद्ध, इन्द्रियातीत और ज्ञान स्वरूपी है, वह परमदेव मेरे हृदय में वास करे । १६

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः, सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१७॥
देख रहा जो निखिल-विश्व को, कर्मकलंक विहीन विचित्र ।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र ॥१७॥

जो सम्पूर्ण विश्व को देख रहा है, कर्मकलंक से पूर्णतया रहित है,
विचित्र/आश्चर्यकारी अद्भुत स्वभाव वाला है, स्वच्छ है, विशिष्ट निर्मल है, समस्त
विकारों से पूर्णतया रहित है, वह देव मेरे मन को भी पवित्र करे ।१७

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषै, –र्यो ध्वान्तसंधैरिव तिग्मरश्मिः ।

निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

कर्मकलंक अछूत न जिसका, कभी छू सके दिव्यप्रकाश ।

मोह-तिमिर को भेद चला जो, परम शरण मुझको वह आप्त^{१४} ॥१८॥

कर्मकलंक जिसका कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता है, वास्तव में तो यह दिव्य प्रकाश भी जिसका स्पर्श नहीं कर सकता है / जो पर्यायमात्र से अप्रभावित है, जिसने मोह रूपी अन्धकार का पूर्णतया भेदन कर दिया है, वह देव ही मुझे परमशरणभूत है ।

१८.

आप्त^{१४} देव

विभासते यत्र मरीचिमालि, न विद्यमाने भुवनावभासि ।
स्वात्मस्थितं बोधमय प्रकाशं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१९॥
विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यन्तं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

जिसकी दिव्यज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्यप्रकाश ।
स्वयं ज्ञानमय स्व-पर प्रकाशी, परम शरण मुझको वह आप्त ॥१९॥
जिसके ज्ञान रूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ ।
आदि अन्त से रहित शान्त शिव, परम शरण मुझको वह आप्त ॥२०॥

जिसकी केवलज्ञानमयी दिव्यज्योति के समक्ष सूर्य का प्रकाश भी तेज-हीन दिखाई देता है, जो स्वयं ज्ञानमय है, स्व-पर प्रकाशक है, वह देव ही मुझे परम शरणभूत है । १९

जिसके ज्ञानरूपी दर्पण में सभी पदार्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप से झलक रहे हैं, जो आदि-अन्त से रहित शाश्वत है, शान्त है, शिव/कल्याण स्वरूप है, वह देव ही मुझे परम शरणभूत है । २०

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा, विषादनिद्राभयशोकचिन्ता ।

क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च-स्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव ।

भय-विषाद-चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव ॥२१॥

जैसे अग्नि सहज ही वृक्ष को जला डालती है; उसीप्रकार जिसके भय, विषाद, चिन्ता आदि सभी विकार स्वयं ही नष्ट हो गए हैं, वह देव ही मुझे परम शरणभूत है ।२१

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः ।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥
तृण, चौकी, शिल^{१५} शैल, शिखर^{१६} नहीं, आत्मसमाधि के आसन ।
संस्तर, पूजा, संघ-सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन ॥२२॥

तृण/घास का आसन, चौकी, शिला, पर्वत की चोटी आदि आत्मा में
समाधि/स्थिरता के आसन नहीं है । इसीप्रकार संस्तर/संथारा, पूजा- प्रतिष्ठा, संघ का
सम्मेलन अथवा योग्य संघ का समागम प्राप्त हो जाना, समाधि/आत्म-स्थिरता के साधन
नहीं हैं ।२२

शिल^{१५} शिला, शिखर^{१६} पर्वत की चोटी

न संस्तरो भद्र ! समाधिसाधनं, न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्व्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥
इष्ट-वियोग^{१७}, अनिष्ट-योग^{१८} में, विश्व मनाता है मातम^{१९} ।
हेय^{२०} सभी है विश्व वासना, उपादेय^{२१} निर्मल आतम ॥२३॥

प्रिय पदार्थों के बिछुड़ जाने और अप्रिय पदार्थों का संयोग हो जाने पर संसारी प्राणी दुःख-शोक आदि करता है; परन्तु वास्तव में तो सभी विश्व-वासना/किसी भी पदार्थ के प्रति किसी भी प्रकार की आसक्ति/समस्त परलक्षी परिणाम हेय/छोड़ने-योग्य ही हैं । एकमात्र अपना निर्मल आत्मा ही उपादेय / आश्रय लेने - योग्य है ।२३

इष्ट-वियोग^{१७} प्रिय पदार्थों का बिछुड़ जाना, अनिष्ट-योग^{१८} अप्रिय पदार्थों का संयोग,
मातम^{१९} शोक, हेय^{२०} ताज्य, उपादेय^{२१} ग्रहण करने योग्य

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।

इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यां, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै ॥२४॥

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमान, स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।

एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

बाह्य जगत कुछ भी नहीं मेरा, और न बाह्य जगत का मैं ।

यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें ॥२४॥

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास ।

जग का सुख तो मृग-तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥२५॥

बाह्य जगत /जगत में रहनेवाले परपदार्थ मेरे कुछ भी नहीं लगते, मैं भी इन परपदार्थों का कुछ भी नहीं लगता; इनका मुझसे और मेरा इनसे कुछ भी संबंध नहीं है - इस सत्य तथ्य को दृढ़ता पूर्वक स्वीकार करके मैं सम्पूर्ण पर पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर, मुक्ति के लिए सदा अपने में ही स्थिर होता हूँ । आत्म-रमण करता हूँ । २४.

अपना सम्पूर्ण वैभव तो अपने में ही है, बाह्य पदार्थों में उसे पाने का प्रयास करना निरर्थक है । जग के इन पर पदार्थों को सुखमय तथा सुख के कारण मानना तो मृग-मरीचिका के समान भ्रम है; अतः इनके लिए किया गया पुरुषार्थ भी मिथ्या है । २५

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।

बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

अक्षय है शाश्वत^{२२} है आत्मा, निर्मल ज्ञानस्वभावी है ।

जो कुछ बाहर है, सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥२६॥

आत्मा अक्षय/अविनाशी, शाश्वत/अनादि-अनन्त स्थाई, निर्मल और ज्ञानस्वभावी है । इसके अतिरिक्त जो भी है वह सभी इससे भिन्न, पर है, कर्माधीन और नाशशील है ।२६

शाश्वत^{२२} सतत रहनेवाला

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक् कृते चर्मणि रोमकूपाः कुंतो तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥
तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत-तिय-मित्रों से कैसे ।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहें कैसे ॥२७॥

जिसका शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है, उस आत्मा का एकत्व पुत्र, पत्नी, मित्र
आदि के साथ कैसे हो सकता है ? जैसे शरीर से चमड़ी पृथक हो जाने पर, शरीर में
रोम-समूह कैसे रह सकता है ? २७

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, पिपासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥ २८ ॥

महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़ देह संयोग ।

मोक्ष-महल का पथ है सीधा, जड़^{२३} चेतन का पूर्ण वियोग^{२४} ॥२८॥

जो जीव जड़ शरीर आदि परपदार्थों के साथ संयोग करता है, उन्हें अपना मानता है, वह अनन्त दुःख प्राप्त करता है । मोक्षरूपी महल को प्राप्त करने का उपाय तो जड़ शरीर आदि और चेतन आत्मा के पूर्णतया पृथक्-पृथक् होने रूप अत्यन्त सीधा, सरल, सुगम है । २८

जड़^{२३} अजीव-शरिरादिक, वियोग^{२४} अलग हो जाना

सर्व निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।

विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प-जालों को छोड़ ।

निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व^{२५} आत्मा, फिर-फिर लीन उसी में हो ॥२९॥

हे आत्मन ! यदि सुखी होना चाहते हो तो संसार-सागर में गिरानेवाले सम्पूर्ण विकल्प-समूहों को छोड़कर; समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित निर्विकल्प, संसार के जंजाल से रहित निर्द्वन्द्व आत्मा में पुनःपुनः स्थिर हो जाओ ।२९

निर्द्वन्द्व^{२५} संसार के पचड़ो से रहित

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते ।
करें आप फल देय अन्य^{२६} तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥३०॥
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी ।
पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि ॥३१॥

जीव ने जो भी शुभ या अशुभ कर्म स्वयं किए हैं; वे नियम से अपना फल देते हैं ।
कार्य स्वयं करे और फल अन्य के अधीन हो तो अपने द्वारा किए गए कर्म व्यर्थ हो
जाएंगे, संसार में पुरुषार्थ करने का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा । ३०

जीव को अपने कर्मों के सिवाय अन्य कोई भी फल नहीं देता है; इसलिए कोई
दूसरा, मुझे कुछ दे सकता है –यह विचार छोड़कर, प्रमादी बुद्धि नष्टकर,
आत्मकल्याणकारी कार्यों में जागृत रहते हुए आत्मा में स्थिर हो जाओ ३१ .

अन्य^{२६} कार्य स्वयं करे और अपने किये कर्म (कार्य) का फल दूसरे के आधीन हो
तो संसार में पुरुषार्थ करने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता ।

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः सर्व विविक्तो भृशमनवद्यः ।
शाश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥३२॥
निर्मल, सत्य, शिवं, सुन्दर है, “अमितगति” वह देव महान ।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण ॥३२॥

अमितगति आचार्य कहते हैं कि आश्चर्यकारी अनन्त वैभव सम्पन्न वह महान देव निर्मल, सत्य/वास्तविक, शिव/कल्याणमय, सुन्दर/मनोहारी शाश्वत है। जो इसका सदैव अपने में ही अनुभव करते हैं, वे पवित्रतम पद निर्वाण को प्राप्त करते हैं ।३२

इति द्वात्रिंशतैर्वृत्तैः परमात्मानमीक्षते । योऽनन्यगतचेतस्को यात्यसौ पदमव्ययम्
प्रस्तुत पाठ भावना बत्तीसी आचार्य अमितगति रचित “भावना-द्वात्रिंशति” का हिन्दी पद्यानुवाद है।